

आचार्य हरिभद्रकृत श्रावकधर्मविधिप्रकरण एक परिचय (सम्यक्त्व के विशेष सन्दर्भ में)

प्रस्तुत कृति में आचार्य हरिभद्र ने श्रावक शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ को स्पष्ट करते हुए 'जिनवाणी' का श्रवण करने वाले को श्रावक कहा है, किन्तु यही पर्याप्त नहीं है, उनकी दृष्टि में श्रावक होने के लिए कुछ योग्यताएँ भी अपेक्षित हैं। उन्होंने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो श्रावक धर्म का अधिकारी है अर्थात् श्रावक होने की पात्रता रखता है उसके द्वारा ही श्रावक धर्म का आचरण सम्भव है। अनाधिकारी या अपात्र व्यक्ति द्वारा किया गया श्रावक धर्म का परिपालन भी जिनेश्वर देव की आज्ञाभंग के दोष से दूषित होने के कारण अधर्म ही बन जाता है। आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में श्रावक धर्म का अधिकारी या पात्र वही व्यक्ति हो सकता है जो दूसरों से भयभीत नहीं होता है, क्योंकि धार्मिक चेतना का विकास निर्भय मानसिकता में ही सम्भव है। पुनः आचार्य कहते हैं कि श्रावक धर्म का पालन कोई भी व्यक्ति अपनी कुल परम्परा से प्राप्त शुद्ध आजीविका का अर्जन करते हुए कर सकता है। श्रावक धर्म के लक्षणों की चर्चा करते हुए वे यह बताते हैं कि धर्म के प्रति प्रीति रखना, न तो किसी की निन्दा करना और न निन्दा सुनना, अपितु निन्दकों पर भी करुणा रखना श्रावक धर्म की आराधना के लिए आवश्यक है। हरिभद्र की दृष्टि में जिज्ञासुवृत्ति और चित्त की एकाग्रता भी धर्म-साधना के अन्य मुख्य अंग हैं। इसी प्रकार नियत समय पर चैत्यवन्दन (देव-वन्दन), गुरु का विनय, उचित आसन पर बैठकर धर्म श्रवण, स्वाध्याय में सतत उपयोग — ये सभी कार्य श्रावक धर्म के आचरण के लिए आवश्यक हैं। आगे आचार्य हरिभद्र श्रावक-आचार की विशिष्टता बताते हुए कहते हैं कि अपने सदाचरण से सभी का प्रिय होना, अनिन्दित कर्म से आजीविका उपार्जन करना, आपत्ति में धैर्य रखना, यथाशक्ति तप, त्याग और धर्म का आचरण करना यही श्रावक के मुख्य लक्षण हैं। उपर्युक्त गुणों से युक्त होकर के ही गृहस्थ धर्म का परिपालन सम्भव होता है, इन गुणों के अभाव में जिन-आज्ञा की विराधना होती है और श्रावक धर्म के परिपालन की पात्रता ही समाप्त हो जाती है।

गृहस्थधर्म के अधिकारी के लक्षणों की चर्चा के उपरान्त आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत कृति में इस बात पर अधिक बल दिया है कि पञ्च अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार

शिक्षाव्रत रूपी श्रावक धर्म का मूल आधार सम्यक्त्व है। प्रस्तुत कृति में आचार्य ने सम्यक्त्व के सन्दर्भ में विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। सर्वप्रथम उन्होंने सम्यक्त्व के क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक — ऐसे तीन प्रकारों की चर्चा की है। इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी बताया है कि जो न स्वयं मिथ्यात्व का सेवन करता है और न करवाता है और न करने वाले का अनुमोदन करता है वही सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। मिथ्यात्व के अनेक रूपों की चर्चा करते हुए आचार्य ने सर्वप्रथम मुक्ति के निमित्त सरागी लौकिक देवताओं की उपासना को मिथ्यात्व प्रतिपादित किया है। इन लौकिक देवों की पुष्पमाला आदि से पूजा करना, वस्त्रादि से उनका सत्कार करना तथा मानसिक रूप से उनके प्रति प्रीति भाव रखना — हरिभद्र की दृष्टि में ये सभी मिथ्यात्व के लक्षण हैं। इसी प्रकार उन्होंने वीतराग लोकोत्तमदेव के लक्षण को लौकिक देवों पर घटित करना भी मिथ्यात्व माना है। उनकी दृष्टि में शुद्ध धर्माचरण से विमुख तापस, शाक्यपुत्रीयश्रमण आदि अन्य तैर्थिकों से संसर्ग रखना, उनकी प्रशंसा करना और उनके आदेशों का पालन करना भी मिथ्यात्व के लक्षण हैं। मात्र यही नहीं आचार्य ने स्पष्ट रूप से जैनमुनि के वेश को धारण करने वाले, किन्तु जिन-आज्ञा का सम्यक् रूप से पालन नहीं करने वाले पार्श्वस्थ आदि जैनाभासों के वन्दन, पूजन को भी मिथ्यात्व ही माना है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने शिथिलाचारी, खिन्न मन से मुनि जीवन जीने वाले, आचारहीन, नित्य एक स्थान पर रहने वाले, निमित्त आदि विद्याओं के द्वारा लोकरंजन करने वाले, स्वेच्छाचारी जैन श्रमणों को भी वन्दनीय नहीं माना है। उनकी दृष्टि में ऐसे-ऐसे जैनश्रमणों के वन्दन आदि से भी मिथ्यात्व की ही अभिवृद्धि होती है। आचार्य के अनुसार ऐसे साधुओं का संसर्ग भी सम्यक्त्व का नाशक माना गया है। इसी क्रम में स्वेच्छाचारी को परिभाषित करते हुए उन्होंने बताया है कि जो आगम विरुद्ध आचरण करता है और जिन वचनों की आगम विरुद्ध मनमाने ढंग से व्याख्याएँ करता है, वह स्वेच्छाचारी है। साथ ही ऐसा तथाकथित श्रमण जो ऋद्धि-गौरव, सुख-गौरव और रस-गौरव में डूबा रहता है, मात्र यही नहीं जो चैत्यादि के निर्माण में और उनके निमित्त से धन-धान्य की वृद्धि करने हेतु कुँआ, बगीचा आदि बनवाने में प्रवृत्त रहता है तथा श्रावकों पर मनमाने ढंग से कर आदि लगाकर सम्पत्ति एकत्र करता है, जिन आज्ञा का विराधक स्वेच्छाचारी श्रमण है। इस प्रकार आगम विरुद्ध आचरण करने वाले, जिन-वचन की मनमाने ढंग से अन्यथा व्याख्या करने वाले स्वच्छन्द मुनियों के उपाश्रय आदि में जाकर धर्म श्रवण आदि क्रियाएँ भी हरिभद्र की दृष्टि में मिथ्यात्व का ही कारण है। श्रद्धावान् श्रावक ऐसे स्वेच्छाचारी मुनियों के सम्पर्क में आकर निश्चित ही अपने सम्यक्त्व को दूषित करता है, क्योंकि सुविहितों और स्वेच्छाचारियों के उपदेशों में विसंवाद होने के कारण उसके मन में सन्देह उत्पन्न होता है। प्रस्तुत कृति में आचार्य हरिभद्र तो यहाँ तक कहते हैं कि ऐसे स्वेच्छाचारी मुनियों के चैत्य, उपाश्रय आदि स्थान भी मिथ्यात्व के हेतु होने से अर्धमायतन ही हैं। श्रावक

को इन साधुओं के सम्पर्क आदि को भी मिथ्यात्व का जनक जानकर त्याग करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने न केवल छद्मवेशी अन्य मतावलम्बी तापसों आदि के सम्पर्क, सत्कार, स्तुति आदि को मिथ्यात्व का कारण माना, अपितु उन जैन मुनियों, जो आगम विरुद्ध आचरण करते हैं, के सम्पर्क, सत्कार, सम्मान आदि को भी मिथ्यात्व का कारण माना है और सदगृहस्थ को उनसे दूर रहने का ही निर्देश दिया है।

आचार्य हरिभद्र श्रावक धर्म के आधारभूत तत्त्व सम्यक्दर्शन की इस व्याख्या के प्रसंग में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यदि स्वयं इन शिथिलाचारियों के उपदेश का प्रतिषेध करने में असमर्थ हो तो, उनके उपदेश सुनने की अपेक्षा अपने कानों को बन्द कर लेना ही अच्छा है। इस प्रकार उन्होंने गृहस्थसाधकों को स्पष्ट रूप से यह निर्देश दिया है कि मनसा, वाचा और कर्मणा न तो मिथ्यात्व का सेवन करें, न कराये और न मिथ्यात्व का सेवन करने वाले का अनुमोदन करें। आचार्य अनुमोदन की सूक्ष्मता से चर्चा करते हुए यहाँ तक कहते हैं कि मिथ्यादृष्टियों के मध्य में निवास करना, उनके साथ खान-पान करना और उनके विचारों का प्रतिश्रवण करना भी उस विशिष्ट स्थिति में मिथ्यात्व का अनुमोदन हो जाता है, जब उससे सम्यक्त्व के दूषित होने की सम्भावना हो। यद्यपि इस चर्चा के प्रसंग में हरिभद्र यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि मात्र साथ रहने अथवा खान-पान आदि साथ-साथ करने से मिथ्यात्व का अनुमोदन नहीं हो जाता है। आचार्य की दृष्टि में इन परिस्थितियों में मिथ्यात्व का अनुमोदन तभी होता है, जब व्यक्ति स्वयं उनमें सम्मिलित होकर उन्हें अच्छा समझने लगता है। मात्र परस्पर एक दूसरे के साथ रहने आदि से ही किसी व्यक्ति को एक दूसरे का समर्थक नहीं माना जा सकता है। नगर में राजा, अमात्य, श्रेष्ठी, कलाजीवी, वणिक, मालाकार, स्वर्णकार एवं सेवकजन सब साथ-साथ रहते हैं, फिर भी उन्हें एक दूसरे का समर्थक नहीं कहा जाता है। वस्तुतः संवास या परस्पर भोग-उपभोग मात्र से अनुमति सम्भव नहीं है। आचार्य तर्क देते हैं कि यदि यह हो तो फिर सम्यक्त्व में भी उन सबकी अनुमति मानना होगी। पुनः ऐसी स्थिति में अभव्य जनों का भी सम्यक्त्व में अनुमोदन मानना होगा, जिसे जैन परम्परा स्वयं स्वीकार नहीं करती है। अन्त में आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि सम्यक्त्व के साधक श्रावक को मिथ्यात्व से विरत होकर गुरु के समीप जाकर वीतराग अरहन्त परमात्मा मेरे देव अर्थात् आराध्य हैं, अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का परिपालन करने वाले साधु ही मेरे गुरु हैं और अहिंसा ही धर्म है ऐसी प्रतिपत्ति स्वीकार करनी चाहिए। सम्यक्त्व की चर्चा के प्रसंग में आचार्य हरिभद्र ने आठ दर्शनाचारों का उल्लेख भी किया है और उनकी विस्तृत विवेचना भी की है और इस प्रसंग में उन्होंने जैनधर्मदर्शन की अनेक महत्वपूर्ण दार्शनिक समस्याओं को उठाया भी है। निश्चकितत्व की चर्चा करते हुए पूर्व पक्ष के रूप में वे प्रश्न उठाते हैं कि जीवों में उपयोग लक्षण समान

है, तो फिर एक को भव्य और दूसरे को अभव्य कैसे माना जा सकता है? अथवा एक परमाणु-पूरित प्रदेश (क्षेत्र) में दूसरे परमाणु अवगाहन कैसे कर सकते हैं और उसी प्रदेश में सर्वव्यापी होकर कैसे रहते हैं? क्योंकि परमाणु से सूक्ष्म तो कुछ होता ही नहीं है और प्रत्येक परमाणु एक आकाश प्रदेश का अवगाहन करके रहता है, अतः एक ही आकाश प्रदेश में अनेक परमाणु सर्वव्यापी हो कैसे रह सकते हैं? हरिभद्र की दृष्टि में ये एक देश विषयक अर्थात् आंशिक शंकाएँ हैं। इसी क्रम में गणिपिटक (जैन आगम) सामान्य पुरुषों द्वारा रचित है अथवा सर्वज्ञ द्वारा रचित है? ऐसी शंका करना सर्व विषयक सर्वांश शंका है, क्योंकि इससे सम्यक्त्व का आधार ही समाप्त हो जाता है।

इसी प्रकार निराकांक्षा की चर्चा करते हुए बताया गया है कि कर्मों का फल मिलेगा या न मिलेगा इस प्रकार का विचार करना आकांक्षा है। इसी प्रसंग में आचार्य ने यह भी कहा है, स्वधर्म का त्याग कर दूसरे धर्म-दर्शनों की इच्छा करना भी आकांक्षा का ही रूप है। किसी अन्य धर्म विशेष की आकांक्षा करना एक देश अर्थात् आंशिक आकांक्षा है। इससे भिन्न सभी मतों की आकांक्षा करना या यह मानना कि वे सभी धर्म या दर्शन मोक्ष की ओर ही ले जाते हैं, सर्व विषयक आकांक्षा है। यहाँ आचार्य ने शंका के प्रसंग में 'पेयपाई' और आकांक्षा के प्रसंग में 'राजा और अमात्य' की कथा का निर्देश दिया है। प्रस्तुत कृति में हमें कहीं भी ऐसे संकेत उपलब्ध नहीं होते हैं, जिससे हम यह कथा क्या है, इसका विवेचन कर सकें।

इसी क्रम में निर्विचिकित्सा अंग की चर्चा करते हुए कहा गया है कि विचिकित्सा अर्थात् घृणा भी दो प्रकार की मानी गई है एकांश विषयक और दूसरी सर्व विषयक। विचिकित्सा को स्पष्ट करते हुए आचार्य ने कहा है कि चैत्यवन्दन, व्रतपालन आदि अनुष्ठान सफल होंगे या निष्फल होंगे अथवा इनका फल मिलेगा या नहीं? ऐसे कुशंका को विचिकित्सा कहा जाता है। किन्तु सामान्यतया विचिकित्सा का तात्पर्य जैन साधु के मलिन शरीर या वस्त्रादि को देखकर घृणा करना माना जाता है। पूर्व में स्वयं आचार्य हरिभद्र ने इसी अर्थ का निर्देश किया है, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में उन्होंने विचिकित्सा का एक नया अर्थ किया है। विचिकित्सा के सन्दर्भ में आचार्य ने श्रद्धाहीन श्रावक और विद्या-की साधना करने वाले श्रद्धावान् चोर का उदाहरण तथा प्रत्यन्तवासी अर्थात् सीमान्त प्रदेशवासी श्रावक पुत्री की कथा का निर्देश भी किया है।

अमूढदृष्टि दर्शनाचार का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने बताया है कि बौद्ध आदि इतर धर्मावलम्बियों की विभिन्न प्रकार की साधना विधियों के प्रति आकर्षित एवं उनके पूजा, सत्कार आदि को देखकर भ्रान्त न होना ही अमूढदृष्टि है। विशिष्ट तप करने वाले, वृद्ध, ग्लान, रोगी, शैक्ष आदि की सेवा शुश्रूषा करने वाले विनयवान एवं स्वाध्यायी मुनियों की प्रशंसा करना उपब्रह्म है। इसी प्रकार धर्म मार्ग से च्युत होते हुए

व्यक्तियों को पुनः धर्म मार्ग में स्थिर करना स्थिरीकरण है। वस्तुतः यह धर्म साधना के क्षेत्र में खिन्न हुए व्यक्तियों को प्रोत्साहित कर उन्हें साधना में प्रतिष्ठित करना है। स्वधर्मीवात्सल्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि स्वधर्मों जनों के प्रति वात्सल्य या अनुराग रखना, कष्ट के समय उनकी सहायता करना स्वधर्मीवात्सल्य है। आचार्य ने अमूढदृष्टि के प्रसंग में सुलसा श्राविका की, उपब्रह्मण के सन्दर्भ में राजा श्रेणिक की, स्थिरीकरण के प्रसंग में आषाढाचार्य की और वात्सल्य के प्रसंग में वज्रस्वामी की कथाओं का निर्देश किया है।

अन्तिम प्रभावना अंग की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि विभिन्न प्रकार की लब्धियों (ऋद्धियों), विविध प्रकार की विधाओं (तन्त्र-मन्त्र आदि), अष्टांगज्योतिष, निमित्तशास्त्र आदि में पारंगत होकर उनके माध्यम से जिनशासन की प्रभावना करना सम्यक्-दर्शन का प्रभावना अंग है।

आचार्य ने यहाँ यह भी बताया है कि सम्यक्त्व का बोध होने पर भी व्रत प्रतिपत्ति अर्थात् अणुव्रतों आदि को ग्रहण करने की भावना वैकल्पिक हो सकती है, किन्तु ऐसे व्यक्ति को भी सेवा एवं स्वाध्याय आदि तो नियम से करना ही चाहिए। आचार्य यह भी मानते हैं कि एक बार सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर संसार समुद्र को पार करने के लिए नौका के समान व्रत आदि भी कालान्तर में अवश्य ही प्राप्त होते हैं। सम्यक्त्व की चर्चा के उपरान्त प्रस्तुत कृति में पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों की चर्चा की गई है। इस सन्दर्भ में आचार्य हरिभद्र ने तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण न करके उपासकदशा के क्रम का अनुकरण किया है। मात्र अन्तर यह है कि जहाँ उपासकदशा में अणुव्रत एवं शिक्षाव्रत ऐसा द्विविध वर्गीकरण है, वहाँ आचार्य हरिभद्र ने कालान्तर में विकसित अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत ऐसा त्रिविध वर्गीकरण किया है। श्रावक के व्रतों की इस चर्चा के प्रसंग में प्रस्तुत कृति में हरिभद्र ने श्रावक को किस व्रत का परिपालन कितने योगों और कितने करणों से करना होता है, इसकी विस्तृत चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र ने करण और योग के सन्दर्भ में कुल भंगों की संख्या ४९ मानी है और उनको भी अतीत, अनागत और वर्तमान के साथ गुणित करने पर कुल १४७ भंग माने हैं। साथ ही यह भी बताया है कि भरतक्षेत्र के मध्यखण्ड के बाहर अनुमतिनिषेध के तीन भंग कम करने पर स्वयं के विषय में १४४ भंग होते हैं। यहाँ यह भी चर्चा की गई है कि भरतक्षेत्र के बाहर श्रावकों के भी सर्वव्रत साधु के समान ही तीनकरण और तीनयोग से ही होते हैं। ज्ञातव्य है कि योग (साधन) तीन हैं — १. मन, २. वचन और ३. काया। इनके संयोग से कुल सात भंग (विकल्प) होते हैं यथा — १. मन, २. वचन, ३. काया, ४. मन और वचन, ५. मन और काया, ६. वचन और काया तथा ७. मन, वचन और काया। इसी प्रकार करण भी तीन हैं — १. करना, २. कराना और ३. अनुमोदन। इनके भी सांयोगिक भंग सात ही होंगे। यथा —

१. करना, २. कराना, ३. अनुमोदन, ४. करना और कराना, ५. करना और अनुमोदन करना, ६. कराना और अनुमोदन करना तथा ७. करना, कराना एवं अनुमोदन करना। इस प्रकार सात योग और सात करण को परस्पर गुणित करने पर उनचास ($7 \times 7 = 49$) भंग होते हैं। ये उनचास भंग भी तीन कालों की उपेक्षा से एक सौ सैतालीस ($49 \times 3 = 147$) भंग हो जाते हैं।

इस चर्चा के पश्चात् प्रस्तुत कृति में आचार्य ने श्रावक के बारह व्रतों और उनके प्रत्येक के अतिचारों की विस्तृत चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र ने भी सामान्यतया तो उन्हीं अतिचारों की चर्चा की है जो अन्य ग्रन्थों में भी वर्णित हैं। हरिभद्र द्वारा वर्णित अतिचारों की यह सूची उपासकदशा से बहुत कुछ मिलती है। किन्तु कुछ अवधारणाओं को लेकर हरिभद्र का मतवैभिन्य भी दृष्टिगत होता है। उदाहरण के रूप में जहाँ छठे दिग्ब्रत की चर्चा में जहाँ अन्य आचार्यों ने अन्य गुणव्रतों के समान इस गुणव्रत को भी आजीवन के लिए ग्राह्य माना गया है वहाँ आचार्य हरिभद्र ने दिग्ब्रत का नियम चातुर्मास या उससे कुछ अधिक महीनों के लिए ही बताया है। आश्चर्य यह भी है कि उन्होंने दिग्ब्रत के सर्वमान्य अतिचारों यथा — उर्ध्व, अधो एवं तिर्यक् दिशा की मर्यादा का अतिक्रमण आदि की चर्चा के साथ ही साथ निर्धारित क्षेत्र के बाहर आनयन और प्रेषण को भी दिग्ब्रत का अतिचार माना है। सामान्यतया इनकी चर्चा दिशावकाशिक नामक शिक्षाव्रत में की जाती है। शेष गुणव्रतों की चर्चा में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं देखा जाता है। शिक्षाव्रतों के अतिचारों का विवेचन भी उन्होंने उपासकदशा की परम्परा के अनुसार ही किया है। अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया है कि जहाँ पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत आजीवन के लिए ग्रहण किए जाते हैं वहाँ शिक्षाव्रत निश्चित समय के अथवा दिनों के लिए ही ग्रहण किए जाते हैं। श्रावक के १२ व्रतों की इस चर्चा के पश्चात् उन्होंने संलेखना का उल्लेख तो किया है, किन्तु उसे श्रावक का आवश्यक कर्तव्य नहीं माना है।

